जैन-परम्परा में पूर्वज्ञान : एक विश्लेषण

—डॉ० मुनिश्री नगराज जी, डी० लिट्०

जैन वाङ्मय में ज्ञानियों की दो प्रकार की परम्पराएँ प्राप्त होती हैं: पूर्वधर और द्वादशांग-वेत्ता। पूर्वों में समग्र श्रुत या वाक्-परिणेय समग्र ज्ञान का समावेश माना गया है। वे संख्या में चतुर्दश हैं। जैन श्रमणों में पूर्वधरों का ज्ञान की दृष्टि से उच्च स्थान रहा है। जो श्रमण चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान धारण करते थे, उन्हें श्रुत-केवली कहा जाता था।

पूर्व-ज्ञान की परम्परा

एक मत ऐसा है, जिसके अनुसार पूर्व ज्ञान भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती समय से चला आ रहा था। महावीर के पश्चात् अर्थात् उत्तरवर्ती काल में जो वाङ्मय सर्जित हुआ, उससे पूर्व का होने से वह (पूर्वात्मक-ज्ञान) 'पूर्व' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। उसकी अभिधा के रूप में प्रयुक्त 'पूर्व' शब्द सम्भवतः इसी तथ्य पर आधारित है।

द्वादशांगी से पूर्व पूर्व-रचना

एक दूसरे अभिमत के अनुसार द्वादशांगी की रचना से पूर्व गणधरों द्वारा अर्हद्-भाषित तीन मातृका-पदों के आधार पर चतुर्दशशास्त्र रचे गये, जिनमें समग्र श्रुत की अवतारणा की गयी···· आवश्यक निर्युक्ति में ऐसा उल्लेख है।[1]

द्वादशांगी से पूर्व—पहले यह रचना की गयी, अतः ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्वों के नाम से विख्यात हुए। श्रुतज्ञान के कठिन, कठिनतर और कठिनतम विषय शास्त्रीय पद्धति से इनमें निरूपित हुए। यही कारण है, यह वाङ्मय विशेषतः विद्वत्प्रोज्य था। साधारण बुद्धिवालों के लिए यह दुर्गम था। अतएव इसके आधार पर सर्वसाधारण के लाभ के लिए द्वादशांगी की रचना की गयी।

आवश्यक-निर्युक्ति[2] विवरण में आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध में जो लिखा है, पठनीय है।

---

१ धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइं देसया तस्स।
सव्व जिणाणा गणहरा चौद्दस पुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइया वा वयजीवनिकाय भावणा पढमं।
एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा २६२-६३

२ ननु पूर्वं तावत् पूर्वाणि भगवद्भिर्गणधरैरुपनिबध्यन्ते, पूर्वकरणात् पूर्वाणीति पूर्वाचार्यप्रदर्शित-व्युत्पत्तिश्रवणात्, पूर्वेषु च सकलवाङ्मयस्यावतारो, न खलु तदस्ति यत्पूर्वेषु नाभिहितं, ततः किं शेषांगविरचनेनांग बाह्य विरचनेन वा? उच्यते, इह विचित्रा जगति प्राणिनः तत्र ये दुर्मेधसः ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात्, तेषां च दुर्मेधत्वात्, स्त्रीणां पूर्वाध्ययनानधिकार एव तासां तुच्छत्वादिदोषबहुलत्वात्।

—पृ० ४८, प्रकाशक, आगमोदय समिति, बम्बई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिवाद में पूर्वों का समावेश

द्वादशांगी के बारहवें भाग का नाम दृष्टिवाद है। वह पांच भागों में विभक्त है—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। चतुर्थ विभाग पूर्वगत में चतुर्दश पूर्वज्ञान का समावेश माना गया है। पूर्वज्ञान के आधार पर द्वादशांगी की रचना हुई, फिर भी पूर्व-ज्ञान को छोड़ देना सम्भवतः उपयुक्त नहीं लगा। यही कारण है कि अन्ततः दृष्टिवाद में उसे सन्निविष्ट कर दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि जैन तत्त्व-ज्ञान के महत्त्वपूर्ण विषय उसमें सूक्ष्म विश्लेषण पूर्वक बड़े विस्तार से व्याख्यात थे।

विशेषावश्यकभाष्य में उल्लेख है कि यद्यपि भूतवाद या दृष्टिवाद में समग्र उपयोग—ज्ञान का अवतरण अर्थात् समग्र वाङ्मय अन्तर्भूत है। परन्तु अल्पबुद्धि वाले लोगों तथा स्त्रियों के उपकार के हेतु उससे शेष श्रुत का निर्यूहण हुआ, उसके आधार पर सारे वाङ्मय का सर्जन हुआ।[१]

स्त्रियों के लिए दृष्टिवाद का वर्जन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्त्रियों को दृष्टिवाद का शिक्षण देना वर्जित था। इस सम्बन्ध में विशेषावश्यकभाष्य में जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है—स्त्रियाँ तुच्छ, गर्वोन्नत और चंचलेन्द्रिय होती हैं। उनकी मेधा अपेक्षाकृत दुर्बल होती है, अतः उत्थान-समुत्थान आदि अतिशय या चमत्कार-युक्त अध्ययन तथा दृष्टिवाद का ज्ञान उनके लिए नहीं है।[२]

भाष्यकार ने स्त्रियों की किन्हीं तथाकथित दुर्बलताओं की ओर लक्ष्य किया है। उनका तुच्छ, गर्वबहुल स्वभाव, चपलेन्द्रियता और बुद्धिमान्द्य भाष्यकार के अनुसार वे हेतु हैं, जिनके कारण उन्हें दृष्टिवाद का शिक्षण नहीं दिया जा सकता।

विशेषावश्यकभाष्य की गाथा ५५ की व्याख्या करते हुए मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने जो लिखा है, उसका सारांश इस प्रकार है—स्त्रियों को यदि किसी प्रकार दृष्टिवाद श्रुत करा दिया जाए, तो तुच्छता आदि से युक्त प्रकृति के कारण वे भी दृष्टिवाद की अध्येता हैं, इस प्रकार मन में अभिमान लाकर पुरुष के परिभव-तिरस्कार आदि में प्रवृत्त हो जाती हैं। फलतः उन्हें दुर्गति प्राप्त होती है। यह जानकर दया के सागर, परोपकार-परायण तीर्थंकरों ने उत्थान, समुत्थान आदि अतिशय चमत्कार-युक्त अध्ययन तथा दृष्टिवाद स्त्रियों को देने का निषेध किया है। स्त्रियों को श्रुत-ज्ञान प्राप्त कराया जाना चाहिए। यह उन पर अनुग्रह करते हुए शेष ग्यारह अंग आदि वाङ्मय का सर्जन किया गया।

भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण तथा वृत्तिकार आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने

---

१ जहवि य भूयावाए सव्वस्स वओगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य॥

—**विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५१**

२ तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य।
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो त्थीणं॥

—**विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५२**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रियों की प्रकृति, प्रवृत्ति, मेधा आदि की जो आलोचना की है, वह विमर्श सापेक्ष है, उस पर तथ्यान्वेषण की दृष्टि से ऊहापोह किया जाना चाहिए। गर्व, चापल्य तथा बुद्धि-दौर्बल्य या प्रतिभा की मन्दता आदि स्त्री-धर्म ही हैं, यह कहा जाना तो संगत नहीं लगता पर, प्राचीन काल से ही लोक-मान्यता कुछ इसी प्रकार की रही है। गर्व का अभाव, ऋजुता, जितेन्द्रियता और बुद्धि-प्रकर्ष संस्कार—लभ्य भी हैं और अध्यवसाय-गम्य भी। वे केवल पुरुष जात्याश्रित ही हो, यह कैसे माना जा सकता है? स्त्री जहाँ तीर्थंकर नामकर्म तक का बन्ध कर सकती है अर्थात् स्त्री में तीर्थंकर पद, जो अध्यात्म-साधना की सर्वोच्च सफल कोटि की स्थिति है, अधिगत करने का क्षमता है, तब उसमें उपर्युक्त दुर्बलताएँ आरोपित कर उसे दृष्टिवाद-श्रुत की अधिकारिणी न मानना एक प्रश्न-चिन्ह उपस्थित करता है।

नारी और दृष्टिवाद : एक और चिन्तन

प्रस्तुत विषय में कतिपय विद्वानों की एक और मान्यता है। उसके अनुसार पूर्व-ज्ञान लब्ध्यात्मक है। उसे स्वायत्त करने के लिए केवल अध्ययन या पठन ही यथेष्ट नहीं है, अनिवार्यतः कुछ विशेष प्रकार की साधनाएँ भी करनी होती हैं, जिनमें कुछ काल के लिए एकान्त और एकाकी वास भी आवश्यक है। एक विशेष प्रकार के दैहिक संस्थान के कारण स्त्री के लिए यह सम्भव नहीं है। यही कारण है कि उसे दृष्टिवाद सिखाने की आज्ञा नहीं है, यह हेतु अवश्य विचारणीय है।

पूर्व-रचना : काल-तारतम्य

पूर्वों की रचना के सम्बन्ध में आचारांग-निर्युक्ति में एक और संकेत किया गया है, जो पूर्वों के उल्लेखों से भिन्न है। वहाँ सर्वप्रथम आचारांग की रचना का उल्लेख है, उसके अनन्तर अंग-साहित्य और इतर वाङ्मय का जब एक ओर पूर्व वाङ्मय की रचना के सम्बन्ध में प्रायः अधिकांश विद्वानों का अभिमत उनके द्वादशांगी से पहले रचे जाने का है, वहाँ आचारांग-निर्युक्ति में आचारांग के सर्जन का उल्लेख एक भेद उत्पन्न करता है। अभी तो उसके अपाकरण का कोई साधक हेतु उपलब्ध नहीं है। इसलिए इसे यहीं छोड़ते हैं, पर इसका निष्कर्ष निकालने की ओर विद्वज्जनों का प्रयास रहना चाहिए।

सभी मतों के परिप्रेक्ष्य में ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है कि पूर्व वाङ्मय की परम्परा सम्भवतः पहले से रही है और वह मुख्यतः तत्त्वादि की निरूपक रही है। वह विशेषतः उन लोगों के लिए थी जो स्वभावतः दार्शनिक मस्तिष्क और तात्त्विक रुचि-सम्पन्न होते थे। सर्वसाधारण के लिए उसका उपयोग नहीं था। इसलिए बालकों, नारियों, वृद्धों, अल्पमेधावियों या गूढ़ तत्त्व समझने की न्यून क्षमता वालों के हित के लिए प्राकृत में धर्म-सिद्धान्त की अवतारणा हुई, जैसी उक्तियाँ अस्तित्व में आईं।[1]

पूर्व वाङ्मय की भाषा

पूर्व वाङ्मय अपनी अत्यधिक विशालता के कारण शब्द-रूप में पूरा-का-पूरा व्यक्त किया

---

१ बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥ —दशवैकालिकवृत्ति, पृ० २०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सके, सम्भव नहीं माना जाता। परम्परया कहा जाता है कि मसी-चूर्ण की इतनी विशाल राशि हो कि अंबारी सहित हाथी भी उसमें ढंक जाये। उस मसी-चूर्ण को जल में घोला जाए और उससे पूर्व लिखे जाएँ, तो भी यह कभी शक्य नहीं होगा कि वे लेख में बाँधे जा सकें। अर्थात् पूर्वज्ञान समग्रतया शब्द का विषय नहीं है। वह लब्धिरूप आत्मक्षमतानुस्यूत है। पर, इतना सम्भाव्य मानना ही होगा कि जितना भी अंश रहा हो, शब्दरूप में उसकी अवतरणा अवश्य हुई। तब प्रश्न उपस्थित होता है, किस भाषा में ऐसा किया गया ?

साधारणतया यह मान्यता है कि पूर्व संस्कृत-बद्ध थे। कुछ लोगों का इसमें अन्यथा मत भी है। वे पूर्वों के साथ किसी भी भाषा को नहीं जोड़ना चाहते। लब्धिरूप होने से जिस किसी भाषा में उनकी अभिव्यंजना संभाव्य है। सिद्धान्ततः ऐसा भी सम्भावित हो सकता है। पर, चतुर्दश पूर्वधरों की, दश पूर्वधरों की, क्रमशः हीयमान पूर्वधरों की एक परम्परा रही है। उन पूर्वधरों द्वारा अधिगत पूर्व-ज्ञान, जितना भी वाग्-विषयता में संचीर्ण हुआ, वहाँ किसी न किसी भाषा का अवलम्बन अवश्य ही रहा होगा। यदि संस्कृत में वैसा हुआ, तो स्वभावतः एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जैन मान्यता के अनुसार प्राकृत (अर्द्धमागधी) आदि-भाषा है। तीर्थंकर अर्द्धमागधी में धर्म-देशना देते हैं। वह श्रोतृ-समुदाय की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है। देवता इसी भाषा मे बोलते हैं। अर्थात् वैदिक परम्परा में विश्वास रखने वालों के अनुसार छन्दस् (वैदिक संस्कृत) का जो महत्व है, जैनधर्म में आस्था रखने वालों के लिए आर्षत्व के संदर्भ में प्राकृत का वही महत्व है।

भारत में प्राकृत-बोलियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से लोक-भाषा के रूप में व्यवहृत रही हैं। छन्दस् सम्भवतः उन्हीं बोलियों में से किसी एक पर आधृत शिष्ट रूप है। लौकिक संस्कृत का काल उससे पश्चाद्वर्ती है। इस स्थिति में पूर्व-श्रुत को भाषात्मक दृष्टि से संस्कृत के साथ जोड़ना कहाँ तक संगत है ? कहीं परवर्ती काल में ऐसा तो नहीं हुआ, जब संस्कृत का साहित्यिक भाषा के रूप में सर्वातिशायी गौरव पुनः प्रतिष्ठापन्न हुआ, तब जैन विद्वानों के मन में भी वैसा आकर्षण जगा हो कि वे भी अपने आदि वाङ्मय का उसके साथ लगाव सिद्ध करें, जिससे उसका माहात्म्य बढ़े, निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता पर सहसा यह मान लेना समाधायक नहीं प्रतीत होता कि पूर्व-श्रुत संस्कृत-निबद्ध रहा।

पूर्वगत : एक परिचय

पूर्वगत के अन्तर्गत विपुल साहित्य है। उसके अन्तर्वर्ती चौदह पूर्व हैं—

१. **उत्पादपूर्व**—इसमें समग्र द्रव्यों और पर्यायों के उत्पाद या उत्पत्ति को अधिकृत कर विश्लेषण किया गया है। इसका पद-परिमाण एक करोड़ है।

२. **अग्रायणीयपूर्व**—अग्र तथा अयन शब्दों के मेल से अग्रायणीय शब्द निष्पन्न हुआ है। अग्र[1] का अर्थ परिमाण और अयन का अर्थ गमन-परिच्छेद या विशदीकरण है। अर्थात् इस पूर्व में सब द्रव्यों, सब पर्यायों और सब जीवों के परिमाण का वर्णन है। पद-परिमाण छियानवें लाख है।

---

१. अग्रं परिमाण तस्य अयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः तस्मै हितमग्रायणीयम्, सर्वद्रव्यादिपरिमाण-परिच्छेदकारि—इति भावार्थः तथाहि तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यंते।

—**अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, २५१५**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **वीर्यप्रवादपूर्व**—इसमें सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य[1] का विवेचन है। पद-परिमाण सत्तर लाख है।

४ **अस्ति-नास्ति-प्रवादपूर्व**—लोक में धर्मास्तिकाय आदि जो हैं और खर-विषाणादि जो नहीं हैं, उनका इसमें विवेचन है। अथवा सभी वस्तुएं स्वरूप की अपेक्षा से हैं तथा पररूप की अपेक्षा से नहीं हैं, इस सम्बन्ध में विवेचन है।[2] पद-परिमाण साठ लाख है।

५. **ज्ञानप्रवादपूर्व**—इसमें मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान का विस्तारपूर्वक विश्लेषण है। पद-परिमाण एक कम एक करोड़ है।

६. **सत्य-प्रवादपूर्व**—सत्य का अर्थ संयम या वचन[3] है। उनका विस्तारपूर्वक सूक्ष्मता से इसमें विवेचन है। पद-परिमाण छः अधिक एक करोड़ है।

७. **आत्म-प्रवादपूर्व**—इसमें आत्मा या जीव का नय-भेद से अनेक प्रकार से वर्णन है। पद-परिमाण छब्बीस करोड़ है।

८. **कर्म-प्रवादपूर्व**—इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश आदि भेदों की दृष्टि से विस्तृत वर्णन किया गया है। पद परिमाण एक करोड़ छियासी हजार है।

९. **प्रत्याख्यानपूर्व**—इसमें भेद-प्रभेद सहित प्रत्याख्यान-त्याग का विवेचन है। पद-परिमाण चौरासी लाख है।

१०. **विद्यानुप्रवादपूर्व**—अनेक अतिशय-चमत्कार युक्त विद्याओं का, उनके अनुरूप साधनों का तथा सिद्धियों का वर्णन है। पद-परिमाण एक करोड़ दस लाख है।

११. **अवन्ध्यपूर्व**—वन्ध्य शब्द का अर्थ निष्फल होता है, निष्फल न होना अवन्ध्य है। इसमें निष्फल न जाने वाले शुभफलात्मक ज्ञान, तप, संयम आदि का तथा अशुद्ध फलात्मक प्रमाद आदि का निरूपण है। पद-परिमाण छब्बीस करोड़ है।

१२. **प्राणायुप्रवादपूर्व**—इसमें प्राण अर्थात् पाँच इन्द्रिय, मानस आदि तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास तथा आयु का भेद-प्रभेद सहित विश्लेषण है। पद-परिमाण एक करोड़ छप्पन लाख है।

१३. **क्रियाप्रवादपूर्व**—इसमें कायिक आदि क्रियाओं का, संयमात्मक क्रियाओं का तथा स्वच्छन्द क्रियाओं का विशाल-विपुल विवेचन है। पद-परिमाण नौ करोड़ है।

१४. **लोकबिन्दुसारपूर्व**—इसमें लोक में या श्रुत-लोक में अक्षर के ऊपर लगे बिन्दु की

---

१. अन्तरंग शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम।

२. यद वस्तु लोकेस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरशृंगादि तत्प्रवदतीत्यस्तिनास्ति प्रवादम् अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति अस्तिनास्ति प्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

३. सत्यं संयमो वचनं वा तत्सत्य संयमं वचनं वा प्रकर्षेण सप्रपंचमं वदंतीति सत्यप्रवादम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह जो सर्वोत्तम तथा सर्वाक्षर-सन्निपातलब्धि हेतुक है, उस ज्ञान का वर्णन है।[१] पद-परिमाण साढ़े बारह करोड़ है।

चूलिकाएँ

चूलिकाएँ पूर्वों का पूरक साहित्य है। उन्हें परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग (दृष्टिवाद के भेदों) में उक्त और अनुक्त अर्थ की संग्राहिका ग्रंथ-पद्धतियाँ[२] कहा गया है। दृष्टिवाद के इन भेदों में जिन-जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उन-उन विषयों में विवेचित महत्त्वपूर्ण अर्थों-तथ्यों तथा कतिपय अविवेचित अर्थों—प्रसंगों का इन चूलिकाओं में विवेचन किया गया है। इन चूलिकाओं का पूर्व वाङ्मय में विशेष महत्त्व है। ये चूलिकाएँ श्रुत रूपी पर्वत पर चोटियों की तरह सुशोभित हैं।

चूलिकाओं की संख्या

पूर्वगत के अन्तर्गत चतुर्दश पूर्वों में प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाएँ हैं। प्रश्न उपस्थित होता है, दृष्टिवाद के भेदों में पूर्वगत एक भेद है। उसमें चतुर्दश पूर्वों का समावेश है। उन पूर्वों में से चार—उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्य-प्रवाद तथा आस्ति-नास्ति-प्रवाद पर चूलिकाएँ हैं। इस प्रकार इनका सम्बन्ध चारों पूर्वों से होता है। तब इन्हें परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग में उक्त, अनुक्त अर्थोंविषयों की जो संग्राहिका कहा गया है, वह कैसे संगत है ?

विभाजन या व्यवस्थापन की दृष्टि से पूर्वों को दृष्टिवाद के भेदों के अन्तर्गत पूर्वगत में लिया गया है। वस्तुत: उनमें समग्र श्रुत की अवतारणा है, अत: परिकर्म, सूत्र तथा अनुयोग के विषय भी मौलिकतया उनमें अनुस्यूत हैं ही।

चार पूर्वों के साथ जो चूलिकाओं का सम्बन्ध है, उसका अभिप्राय है कि इन चार पूर्वों के संदर्भ में इन चूलिकाओं द्वारा दृष्टिवाद के सभी विषयों का जो-जो वहाँ विस्तृत या संक्षिप्त रूप में व्याख्यात हैं, कुछ कम व्याख्यात हैं, कुछ केवल सांकेतिक हैं, विशदरूपेण व्याख्यात नहीं हैं, संग्रह हैं। इसका आशय है कि वैसे चूलिकाओं में दृष्टिवाद के सभी विषय सामान्यत: संकेतित हैं, पर विशेषत: जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत तथा अनुयोग में विशदतया व्याख्यात नहीं है, उनका इनमें प्रस्तुतीकरण है। पहले पूर्व की चार, दूसरे की बारह, तीसरे की आठ तथा चौथे की दश चूलिकाएँ मानी गयी हैं। इस प्रकार कुल ४+१२+८+१०=३४ चूलिकाएँ हैं।

वस्तु वाङ्मय

चूलिकाओं के साथ-साथ 'वस्तु' संज्ञक एक और वाङ्मय है, जो पूर्वों का विश्लेषक या

---

१ लोके जगति श्रुत-लोके वा अक्षरस्योपरि बिन्दुरिव सारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपातलब्धि-हेतुत्वात् लोकबिन्दुसारम्।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१५

२. यथा मेरो चूला:, तत्र चूला इव दृष्टिवादे परिकर्म सूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तर्थसंग्रहपरा गन्थ-पद्धतय:।

—वही पृ० २५१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या विवर्धक है। इसे पूर्वान्तर्गत अध्ययन-स्थानीय ग्रन्थों के रूप में माना गया है।[1] श्रोताओं की अपेक्षा से सूक्ष्म जीवादि भाव-निरूपण में भी 'वस्तु' शब्द अभिहित है।[2] ऐसा भी माना जाता है, सब दृष्टियों की उसमें अवतारणा है।[3]

वस्तुओं की संख्या

प्रथम पूर्व में दश, दूसरे में चौदह, तीसरे में आठ, चौथे में अठारह, पाँचवें में बारह, छठे में दो, सातवें में सोलह, आठवें में तीस, नौवे में बीस, दशवें में पन्द्रह, ग्यारहवें में बारह, बारहवें में तेरह, तेरहवें में तीस तथा चौदहवें पूर्व में पच्चीस वस्तुएँ हैं, इस प्रकार कुल १०+१४+८+१८+१२+२+१६+३०+२०+१५+१२+१३+३०+२५=२२५ दो सौ पच्चीस वस्तुएँ हैं। विस्तृत विश्लेषण यहाँ सापेक्ष नहीं है। पूर्व वाङ्मय का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥

× × ×

जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥

---

१ पूर्वान्तर्गतेषु अध्ययनस्थानीयेषु ग्रन्थ विशेषेषु।

—अभिधान राजेन्द्र, षष्ठ भाग, पृ० ८७९

२ श्रोत्रापेक्षया सूक्ष्मजीवादि भावकथने।

३ सर्वं दृष्टीनां तत्र समवतारस्तस्य जनके।

—अभिधान राजेन्द्र, चतुर्थ भाग, पृ० २५१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org